

उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम के पच्चीस वर्ष

संजीव कुमार शर्मा



उपभोक्ता अध्ययन केन्द्र
भारतीय लोक प्रशासन संस्थान
नई दिल्ली

उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम के पच्चीस वर्ष

संजीव कुमार शर्मा

प्रायोजक



उपभोक्ता मामले विभाग
उपभोक्ता मामले मंत्रालय
खाध्य एवं सार्वजनिक वितरण
भारत सरकार

आयोजक



उपभोक्ता अध्ययन केन्द्र
भारतीय लोक प्रशासन संस्थान
नई दिल्ली

प्रस्तावना

मुझे यह जानकर अत्यन्त हर्ष है कि उपभोक्ता अध्ययन केन्द्र, भारतीय लोक प्रशासन संस्थान की ओर से "उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम के पच्चीस वर्ष" विषय पर, आयोजित विशेष व्याख्यान, एक लघु पुस्तिका के रूप में प्रकाशित होने जा रहा है।

उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 की रजत जयंती वर्ष में प्रोफेसर संजीव कुमार शर्मा द्वारा दिया गया यह व्याख्यान निश्चित रूप से उपभोक्ता संरक्षण के विविध आयामों को न सिर्फ प्रतिस्थापित करेगा, बल्कि इस क्षेत्र में जिज्ञासा रखने वाले सुधीजनों के ज्ञानपिपासा को भी शांत करने में सहायक होगा।

मैं इस उल्लेखनीय कार्य के लिए उपभोक्ता अध्ययन केन्द्र के समन्वयक एवं चेयर प्रोफेसर सुरेश मिश्रा और सहायक आचार्य डॉ. ममता पटानिया का आभारी हूँ, जिन्होंने इस महत्वपूर्ण विषय पर एक उपयुक्त वक्ता को व्याख्यान के लिए आमंत्रित किया। साथ ही मैं उन सभी लोगों का आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी रूप में इस कार्य में अपना अंशदान किया। आशा करता हूँ कि भविष्य में भी उपभोक्ता अध्ययन केन्द्र की ओर से इस तरह के आयोजन होते रहेंगे।

8 सितम्बर 2011

(राकेश हूजा)

विषय सूची

प्रस्तावना	iii
जीवन-वृत्त	iv
व्याख्यान	1
अध्यक्षीय उद्बोधन	20

जीवन – वृत्त

डॉ. संजीव कुमार शर्मा वर्तमान में, मेरठ विश्वविद्यालय के राजनीति विज्ञान विभाग में आचार्य एवं विभागाध्यक्ष पद पर कार्यरत हैं। विगत दस वर्षों से अखिल भारतीय राजनीति विज्ञान परिषद् की अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त जर्नल— “दि इंडियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइंस” के सम्पादक हैं, साथ ही भारतीय राजनीति विज्ञान शोध पत्रिका के संस्थापक—सम्पादक भी हैं।

इसके अलावा प्रो. शर्मा संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्त्वावधान में प्रकाशित जर्नल— अफ्रीकन जर्नल ऑफ क्रिमिनल जस्टिस एडमिनिस्ट्रेशन, जर्नल फॉर दि स्टडी ऑफ आर्ट्स, सोशियो—पॉलिटिकल स्टडीज, आस्ट्रेलियन जर्नल ऑफ ई—गवर्नेन्स, अफ्रीकन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइन्स, जर्नल ऑफ पॉलिटिकल स्टडीज, जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइन्स, पंजाब जर्नल ऑफ पॉलिटिक्स आदि अनेकों राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जर्नलों के सलाहकार एवं संपादक मण्डल के सदस्य हैं। इनकी अबतक कुल 9 पुस्तकें, 50 से अधिक शोधपत्र, 50 से अधिक आलेख, 16 पुस्तक समीक्षाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। अकादमिक प्रयोजन से इन्होंने अनेक देशों की यात्राएँ की हैं तथा व्याख्यान दिए हैं। प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन, राजनीतिक समाजशास्त्र तथा भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के अध्यापन के क्षेत्र में विशेषज्ञता के साथ—साथ, प्रो. शर्मा को हिन्दी और अंग्रेजी के समान ही संस्कृत भाषा एवं वाङ्मय में विशिष्टता प्राप्त है।

“उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम के पच्चीस वर्ष”

व्याख्यान

प्रो. संजीव कुमार शर्मा

‘उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 के पच्चीस वर्ष’ शीर्षक पर भारत सरकार के उपभोक्ता मामले विभाग, उपभोक्ता मामले, खाद्य एवं सार्वजनिक वितरण मंत्रालय के प्रायोजकत्व में, एवं उपभोक्ता अध्ययन केन्द्र, भारतीय लोक प्रशासन संस्थान के तत्त्वावधान में आयोजित विशिष्ट व्याख्यान के अवसर पर मंचासीन माननीय अध्यक्ष महोदय, भारतीय लोक प्रशासन संस्थान के श्रद्धास्पद निदेशक डॉ० राकेश हूजा जी, राजभाषा समिति के अध्यक्ष एवं मेरे अभिन्न मित्र प्रो. पी. के. चौबे जी, उपभोक्ता अध्ययन केन्द्र के समन्वयक एवं मेरे आदरणीय अग्रज मित्र प्रोफेसर सुरेश मिश्रा जी, सभा में विद्यमान ख्यातिप्राप्त राजनीति विज्ञानी एवं मेरी श्रद्धेय मित्र प्रोफेसर सुषमा यादव जी, उपभोक्ता अध्ययन केन्द्र की प्रिय डॉ० ममता पठानिया, डॉ० सपना चड्ढा तथा केन्द्र के अन्य सुहृद् सहयोगीगण, संस्थान के आदरास्पद शिक्षक मित्र, गणमान्य नागरिकों, सुधी श्रोताओं, पत्रकार व छायाकार बन्धुओं, देवियों और सज्जनों!

सर्वप्रथम मैं अपने अग्रजन्मा शुभेच्छु आचार्यवर श्रीयुत् सुरेश मिश्रा जी का शुद्ध अन्तःकरण से आभार ज्ञापित करना अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ कि उन्होंने मुझ जैसे इस क्षेत्र में अर्धशिक्षित व्यक्ति को इस महत्त्वपूर्ण एवं सम्मानयोग्य अवसर पर मुख्य वक्ता जैसे गरिमामय दायित्व के निर्वाह हेतु साग्रह आमंत्रित किया। वस्तुतः यह मेरे लिए परम सौभाग्य, सम्मान, हर्ष तथा आनन्द का समुच्चय है कि मैं आप सब ज्ञानवृद्धों के समक्ष अपने विचार व्यक्त करने के लिए उपस्थित हुआ हूँ। परन्तु लगभग तीन दशक तक राजनीति विज्ञान विषय का अध्ययन, अध्यापन एवं अनुसन्धान करने पर भी मैं स्वयं को इस महान दायित्व के योग्य कदापि नहीं पाता हूँ। यह मात्र आचार्य श्री सुरेश मिश्रा के स्नेह, सौख्य, औदार्य, सौजन्य, प्रीति तथा आदेश तथा डॉ० ममता पठानिया के निरन्तर आग्रह का ही परिणाम है कि मैं एक ऐसे विषय पर आपसे वार्ता हेतु प्रस्तुत हूँ जिसके बारे में भारतीय मेधा के सार्वकालिक प्रतिनिधि एवं विश्वविख्यात कवि एवं नाटककार महाकवि कालिदास के शब्दों का सुविधानुसार प्रयोग तथा आवश्यकतानुसार संशोधन का दुस्साहस करते हुए कह सकता हूँ कि—

क्व महती गूढ प्रश्नो क्व चाल्पविषया मतिः ।

तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥¹

मित्रो, अपने अज्ञान के विषय में विचार करते समय मुझे प्रख्यात प्राचीन भारतीय चिन्तक एवं मनीषी महाराज भर्तृहरि की प्रसिद्ध उक्ति स्मरण हो आई है कि “जब मैं किंचित् ज्ञान रखता था तो द्विप की भाँति मदान्ध

हो गया था और मेरे मन में सर्वज्ञता का भाव अवलिप्त हो गया था। परन्तु जब कुछ सुधी जनों के सानिध्य में यत्किंचित् सीख सका तब ज्वर की भाँति मेरा मद व्यपगत हुआ और मुझे यह समाधान हुआ कि मैं मूर्ख हूँ तथा मुझे अभी बहुत कुछ जानना और सीखना शेष है”। संस्कृत में उक्ति इस प्रकार है:—

यदा किंचिदज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः ।
यदा किंचित्किश्चिद्भुजसकाशादवगतम्
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ।।^१

अतः मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप सरीखे बुद्धिजीवियों और मनीषियों के सुखद एवं आह्लादकारी सानिध्य में मुझे निश्चय ही अप्रतिम ज्ञान और अपूर्व अनुभव की प्राप्ति होगी। इस नाते यह आमन्त्रण मेरे लिए लाभकारी, रोचक एवं महती उपादेयतायुक्त है। इसलिए पुनः आयोजकों का आभार प्रकट करता हूँ।

बन्धुओं, राजनीति विज्ञान के विद्यार्थी के रूप में मैंने यह जाना और समझा है कि राज्य की उत्पत्ति व्यक्ति के सर्वांगीण विकास हेतु हुई है। राज्य व्यक्ति की सर्वश्रेष्ठ संरचना है। पाश्चात्य राजनीतिक विचारकों ने राज्य के बिना मनुष्य के अस्तित्व को सर्वथा अस्वीकार किया है। यूनानी राजनीतिक चिन्तक अरस्तू तो यहाँ तक कहते हैं कि जो किसी राज्य का सदस्य नहीं है वह या तो पशु है या भगवान। वैसे आज यदि अरस्तू जीवित होते तो देखते कि पशु भी राज्य के अधीन है और भगवान को भी राज्य अपनी मर्यादाओं के बन्धन प्रदान करने को उद्यत है। अस्तु, पश्चिमी विचारकों के एक समुदाय ने राज्य में बुराई तो खोज निकाली परन्तु राज्य की अनिवार्यता में कोई सन्देह व्यक्त नहीं किया और इसीलिए राज्य को व्यक्तिवादियों ने आवश्यक बुराई बताया। कालान्तर में कार्ल मार्क्स ने राज्य को शोषण का उपकरण बताते हुए राज्य के क्रमशः तिरोहित और अन्तर्ध्यान होने की भविष्यवाणी की परन्तु समस्त विश्व के इतिहास ने हमें यही सीख दी कि मार्क्सवाद तो शनैः शनैः तिरोहित, अन्तर्ध्यान, निष्प्रभावी, निष्प्रयोज्य तथा अर्थहीन होता गया परन्तु राज्य की शक्ति, क्षमता, विस्तार तथा स्वीकृति और भी अधिक व्यापक होते गये। वस्तुतः वर्तमान राज्य असीमित अधिकार व सत्ता सम्पन्न अभिकरण है जिसका कार्यक्षेत्र मनुष्य के जीवन के लगभग सभी आयामों का स्पर्श मात्र नहीं करता अपितु उनका अनिवार्य रूप से संचालन, विनियमन एवं नियन्त्रण भी करता है। इस प्रकार वह घोषित रूप में कितना ही लोकतन्त्रात्मक एवं उदारवादी क्यों न हो परन्तु वास्तव में वह व्यक्ति को सर्वतोमुख अधीनस्थ बना लेने वाली संस्था भी बन गया है।

प्राचीन भारतीय समाज में राज्यविहीनता की कल्पना ही भयावह है। यद्यपि राज्य की उत्पत्ति से पूर्व की दशा पाश्चात्य संविदावादी विचारक थॉमस हॉब्स द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था जैसी कदापि नहीं थी, क्योंकि शास्त्र कहता है:—

न वै राज्यं न राजाऽसीत् न दण्डो न च दाण्डिकः ।

धर्मणेव प्रजाः सर्वाः रक्षन्तिस्म परस्परम् ॥³

‘उस समय न राज्य था, न राजा था, न दण्ड था और न ही दाण्डिक था। समस्त प्रजाजन धर्म के द्वारा एक दूसरे की रक्षा करते थे’। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यक्तियों के अन्तर्सम्बन्धों के निर्धारण के लिए, नियमन के लिए, दण्ड प्रावधान के लिए, समाज व्यवस्था के संचालन के लिए, मर्यादाओं की स्थापना के लिए, समष्टि के हित के लिए, व्यष्टि के अभ्युदय के लिए, धर्म के संवर्धन के लिए तथा मानव कल्याण के लिए राज्य नामक संस्था का उद्भव वांछनीय तथा अवश्यभावी था। एतदर्थ राज्य विशेष की प्रशासनिक एवं राजनीतिक संरचना का विभिन्न क्षेत्रीय आवश्यकताओं पर आधृत होना तथा उन संरचनाओं में पृथक् विशिष्टताओं तथा वैविध्य का होना भी स्वाभाविक था। अतः हमें प्राचीन समाजों में शासन व्यवस्थाओं का अद्भुत एवं विलक्षण वैभिन्न्य दृष्टिगोचर होता है। तन्त्रों के रूप में राजतंत्रों एवं नृपतंत्रों के साथ-साथ निर्वाचित शासनतंत्र, साम्राज्य, गणराज्य, लोकतंत्रात्मक राज्य, सैनिक तंत्र, कुलीन तंत्र, अल्पतंत्र, आदि अनेक प्रकार की शासन व्यवस्थाओं के प्रमाण एवं साक्ष्य प्राच्य एवं पाश्चात्य सभी समाजों में विद्यमान हैं।

राज्य के अस्तित्व की आवश्यकता तथा औचित्यपूर्णता के साथ-साथ राज्य की अनिवार्यता एवं अपरिहार्यता की सर्वतोमुखी स्वीकृति का स्वाभाविक परिणाम राज्य की उत्तरोत्तर वर्धमान शक्ति के रूप में ही संभव था। इसलिए भारतीय समाज व राज्य के संचालन हेतु नियम निर्धारण करते समय प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने राज्य की विकल्पहीनता तथा राजधर्म की श्रेष्ठता को बलपूर्वक प्रस्थापित किया। कदाचित्त इसीलिए महर्षि व्यास राज्य के विकास, अस्तित्व एवं अधिकार की रक्षा हेतु व्यक्ति, कुल, ग्राम, जनपद के हितों को गौण मानकर राज्य के हित के प्राधान्य पर बल देते दिखाई देते हैं।

त्यजेदेकं कुलस्यार्थं, ग्रामस्यार्थं कुलं त्यजेत् ।

ग्रामं जनपदस्यार्थं, राष्ट्रार्थं पृथिवीं त्यजेत् ॥⁴

यहाँ यह ध्यातव्य है कि प्राचीन भारतीय मनीषा राष्ट्र और राज्य अभिधानों में इस प्रकार का तकनीकी भेद नहीं करती थी जिस प्रकार का विभेद एवं विमर्श अर्वाचीन सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन में विद्यमान एवं बलवान है। इसीलिए अपने सर्वांग रूप में राजतंत्रात्मक तथा प्रायशः आनुवंशिक उत्तराधिकार सिद्धान्त पर आधारित सत्ता प्रतिष्ठान अपनी समस्त विकृतियों एवं मौलिक विरोधाभासों के रहते हुए भी लोककल्याण-प्रवृत्त और प्रजासुखाभिलाषी ही दृष्टिगोचर होते हैं। वैदिक साहित्य के उपरान्त औपनिषदिक, आरण्यक तथा ब्राह्मण-ग्रंथ साहित्य में भी राज्य के अधिकारों के स्थान पर दायित्वों तथा मर्यादाओं पर लक्षित उपबन्ध एवं उल्लेख ही अधिक मात्रा में उपलब्ध हैं। वाल्मीकि रामायण एवं वेदव्यास कृत महाभारत राजधर्म की शब्दरूपावली को सैद्धान्तिक एवं सूक्ष्म तकनीकी आयाम प्रदान करते हैं। कालान्तर में आचार्य कौटिल्य राज्य व्यवस्था एवं लोक प्रशासन की अद्भुत, विस्मयकारी तथा त्रुटिरहित संरचना प्रस्तुत करते हैं।

इसके अतिरिक्त मनु, शुक्र, बृहस्पति, कामन्दक, विशालाक्ष, बाहुदन्तीपुत्र, कौणपदन्त, भरद्वाज, पिशुन, आदि अनेकानेक प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तक राज्य के विभिन्न अंगों व उपांगों में श्रेष्ठता का संचार करने हेतु अगण्य सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं। इन सब राजनीतिक एवं सामाजिक चिन्तकों एवं मनीषियों की प्रत्ययवादी तथा अनुभवजन्य ज्ञानाधारित व्यावहारिक निर्देशात्मक रचनाओं से पृथक् महाकवि कालिदास अपने अप्रतिम ग्रन्थ “अभिज्ञानशाकुन्तलम्” में राज्य के दायित्व को समस्त भारतीय चिन्तन परम्परा के मूल तत्त्व के रूप में सूत्रबद्ध करते हुए कहते हैं:—

नियमयसि कुमार्गप्रिस्थितानात्तदण्डः ।

प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय ॥⁵

अर्थात् ‘राज्य कुमार्ग पर चलने वालों को दण्ड के प्रावधानों द्वारा नियमबद्ध करेगा, विवादों को प्रशमित करेगा और जन रक्षा के हेतु योजना बनाएगा’।

वस्तुतः प्राचीन राज्य एवं वर्तमान राज्य के मध्य आकार, क्षेत्रफल, वैविध्य, वैभिन्न्य, जनांकिकी तथा तज्जन्य आवश्यकताओं एवं अपेक्षाओं के स्तर पर अकल्पनीय भिन्नता है। तथापि राज्य के कर्तव्यों एवं अधिकारों का पूर्वोक्त मूल मंत्र सार्वकालिक रूप से उपादेय एवं प्रासंगिक है। आज हम जिस विषय पर चर्चा हेतु एकत्रित हैं वह मूलतः राज्य में निवास कर रहे नागरिकों के अधिकार का प्रश्न बाद में है, राज्य के दायित्व निर्वहन का पहले। इसीलिए मैंने राज्य के सैद्धान्तिक आयाम पर विस्तृत प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। यह संयोग मात्र नहीं है कि आधुनिक राजनीतिक चिन्तन जिस भावभूमि पर प्रारम्भ हुआ उसमें इस कथित आन्दोलन के सूत्रधार शिकागो विश्वविद्यालय के आचार्य डेविड ईस्टन ने संस्थाओं के स्थान पर व्यक्ति-केन्द्रित अध्ययन एवं अनुसंधान पर बल दिया और आज इस आन्दोलन के वर्षों बाद हम व्यक्ति को नागरिक, मनुष्य अथवा जीवधारी मानने के स्थान पर उपभोक्ता मानकर विचार विमर्श करने को बाध्य हैं। मनुष्य का उपभोक्ता में रूपान्तरण हो जाना अकस्मात् की घटना नहीं है। परन्तु मैं इस अवसर पर मात्र यही कह सकता हूँ कि यह सुखद घटना भी नहीं है।

अस्तु, मानव की लिप्सा, आकांक्षा, कामना, अभिलाषा, तृष्णा एवं भोगेच्छा प्रायशः अनुचित मार्ग अपनाने के लिए आकर्षित करती है और परिणामतः प्रायशः कर्तव्य से च्युत और दायित्वबोध से स्खलित भी करती है। इसीलिए सामान्य नागरिक को मनुष्य के रूप में समाज से जो प्राप्त होना चाहिए वह नहीं होता बल्कि विकृत की प्राप्ति होती है। नागरिकों के रूप में यदि हमारे कुछ दायित्व हैं तो कुछ अधिकार भी हैं। इन्हीं अधिकारों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है भारतीय संविधान के अनुच्छेद-21 के अन्तर्गत प्राप्त जीवन का अधिकार जिसके अन्तर्गत प्रत्येक नागरिक को जीने का मौलिक अधिकार प्राप्त है। इसका सामान्य अर्थ है जीने योग्य स्थितियों की प्राप्ति का अधिकार। इसका विस्तृत अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक नागरिक को जीवन योग्य दशाएँ उपलब्ध कराना राज्य का दायित्व है। प्रत्येक नागरिक के हितों की रक्षा करना राज्य का

दायित्व है। इन हितों के विरुद्ध कार्य करने वालों को दण्ड निर्धारण कर दण्डित करना भी राज्य का कर्तव्य है। प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में इस प्रकार के तत्त्व दृष्टिगत होते हैं जो मनुष्यों को छल से वंचित किए जाने के विरुद्ध ठोस प्रशासनिक व्यवस्था का निर्माण तथा अनुरक्षण करते हुए दिखाई देते हैं।

भारतीय सभ्यता में उपभोक्ता के रूप में तो नहीं परन्तु नागरिक एवं मनुष्य के रूप में प्रजाजनों के हितों के संरक्षण का इतिहास शताब्दियों पुराना है। प्राचीन भारत में नैतिक मूल्यों तथा मानवीय गरिमा को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इसीलिए राजा, अमात्य, नागरिक, प्रशासनिक अधिकारी, वणिक्—श्रेष्ठि वर्ग, आदि समाज के सभी सदस्यों के आचरण, व्यवहार, कार्यप्रणाली और सामाजिक अन्तः क्रियाओं पर मर्यादाएँ स्थापित थी और ये मर्यादाएँ दायित्वबोध के रूप में व्यक्ति के आचरण में नैतिकता के संचार हेतु, संस्कारों के सम्बर्धन हेतु, वृहत्समुदाय के प्रति व्यक्तिगत उत्तरदायित्व हेतु, आर्थिक क्रियाकलापों पर सामाजिक नियन्त्रण हेतु तथा मनुष्यों तथा संस्थाओं में सच्चरित्रता की स्थापना हेतु एक सांस्कृतिक आवरण की निर्मिति करती थीं जिसे हम विशुद्ध भारतीय शब्दावली में धर्म की संज्ञा देते हैं। यह धर्म ही था जो मनुष्यों, अधिकारियों, संस्थाओं तथा शासकों को दायित्वबोध का भान कराता था; यह धर्म ही था जो 'अदण्ड्योऽस्मि' कहकर शपथ लेने वाले राजा को कुशा के अग्रभाग के प्रहार से 'धर्मदण्ड्योऽसि' कहकर सचेत करता था; यह धर्म ही था जो हमारे व्यक्तिगत एवं सामूहिक आचरण को उच्छृंखल एवं उदण्ड होने से रोकता था; यह धर्म ही था जो हमें परोपकार, दया, क्षमा, अस्तेय, इन्द्रियनिग्रह, शौच, दम, धृति, अक्रोध, सत्य, आदि का पाठ पढ़ाता था; यह धर्म ही था जो हमें सतर्क करता था कि 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'⁶ – अर्थात् 'जो अपने लिए प्रतिकूल हो वैसा आचरण दूसरों के साथ भी नहीं करना चाहिए'; यह धर्म ही था जो श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण से उद्घोषणा कराता था कि 'स्वधर्मं निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'⁷ – अर्थात् 'अपने दायित्व की पूर्ति के मार्ग में मृत्यु की प्राप्ति भी श्रेयस्कर है और दूसरे के कार्यक्षेत्र में अवांछित हस्तक्षेप भयावह है'; यह धर्म ही था जो अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्धि को मानवमात्र का परम लक्ष्य घोषित करता था; यह धर्म ही था जो सेवा को धर्म मानकर इसकी गहनता की व्याख्या करता था कि – 'सेवा धर्मो परमगहनो योगिनामप्यगम्यः'⁸ – अर्थात् 'सेवा का धर्म परम गहन है जो योगियों के लिए भी सुगम नहीं है'; यह धर्म ही था जो मनुष्य को काल-सापेक्ष दायित्व की सीख भी देता था; यह धर्म ही था जो सनातनी कर्मकाण्ड परम्परा के सर्वप्रथम एवं सर्वाधिक सशक्त समालोचक गौतम बुद्ध का भी अन्तिम लक्ष्य था कि – 'धम्मं शरणम् गच्छामि'; यह धर्म ही था जो राजा को अधिकार न देकर राजधर्म की शिक्षा देता था; यह धर्म ही था जो मनुष्य और पशुओं में प्रवृत्तिगत समानताओं के बाद भी विभेद का आधार बनता था तथा यह सूचित करता था कि – 'आहारनिद्रा भयमैथुनं च सामान्यमेतद् पशुभिर्नराणां, धर्मो हि तेषामधिकोनराणां धर्मेण हीनाः पशुभिर्समानाः'⁹; यह धर्म ही था जो मनुष्यों को आचरण की नैष्ठिकता एवं शुद्धता का ज्ञान कराता था और वित्त की अतिशयता की निरर्थकता विज्ञापित करता था और उद्घोषणा

करता था कि— 'वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च, अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्तस्तस्तु हतो हतः'¹⁰ अर्थात् 'चरित्र की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए, धन तो आता है और चला जाता है, वित्त से क्षीण व्यक्ति क्षीण नहीं है परन्तु चरित्र से क्षीण तो मृत ही है'; और, यह धर्म ही था जो कभी पुण्य के प्रलोभन, कभी परम्परा की अनुनय विनय, कभी जन्मान्तर के दण्ड के भय तथा कभी भवबन्धन से छुटकारा के पुरस्कार, आदि के रूप में हमारी सांसारिक एवं व्यक्तिगत कामनाओं, आकांक्षाओं, अभिलाषाओं, वासनाओं तथा लिप्साओं को सीमा प्रदान करता था। यह धर्म अंग्रेजी भाषा के शब्द 'रिलीजन' का पर्यायवाची कदापि नहीं हो सकता क्योंकि 'रिलीजन' जिन मानवीय क्रियाकलापों का बोध कराता है वह बहुत सीमित एवं मूर्त है जबकि भारतीय परम्परा का शब्द धर्म न सम्प्रदाय से संयुक्त है और न ही पंथ से, न किसी विशिष्ट विचारधारा से, न किसी विशिष्ट व्यक्ति से, न किसी पुस्तक विशेष से, न ही किसी स्थान या क्षेत्र विशेष से और न ही किसी कर्मकाण्ड से। धर्म का यह सर्वग्राही, नमनीय, सर्व-समावेशी, विमर्शपरक, सहिष्णु व उदार स्वरूप ही भारतीय सभ्यता को सहस्रों वर्षों तक अक्षुण्ण संजीवनी प्रदान करने का उत्स है। वह मनुष्यों के सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक-राजनीतिक अन्तर्सम्बन्धों का नियामक भी है परन्तु इन क्षेत्रों के प्रायोगिक आयामों में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप से अनुपस्थित भी है। वह मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक साथ भी है परन्तु उसकी स्वतंत्र चेतना से असम्पृक्त भी है। अस्तु, वह निर्देश नहीं देता, सुझाव देता है। बाध्यकारी आदेश नहीं देता, सतर्क करने वाली सलाह देता है। दण्ड नहीं देता, संभावित परिणामों की ओर इंगित करता है। विधियों का निर्माण नहीं करता, अनैतिक आचरण के व्यष्टिगत एवं समष्टिगत दुष्परिणाम सूचित करता है। अतः धर्म व्यक्तियों को, नागरिकों को, मनुष्यों को, समूहों को, जातियों को, सम्प्रदायों को, वर्गों को, क्षेत्रों को, अधिकारियों को, शासकों को और समस्त जीवधारियों को उनकी सीमाओं का आभास कराता है; दायित्वों से परिचित कराता है; आचरण के संस्कार प्रदान करता है; श्रेष्ठ समाज के निर्माण की ओर अग्रसर करता है और श्रेष्ठतर जीवन दशाओं का मार्ग प्रशस्त करता है। इसीलिए श्रीकृष्ण कहते हैं— 'यतो धर्मस्ततो जयः'— अर्थात् 'जहाँ धर्म है वहीं जय है'¹¹। यह धर्म सत्य है और सत्य ही श्रेष्ठतम धर्म है इसीलिए कहा गया है कि— 'नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्'¹²।

मनुस्मृति के अष्टम अध्याय में व्यवस्था दी गई है कि कोई वस्तु (शीघ्र नष्ट होने वाली अचल सम्पत्ति या बहुत समय बाद नष्ट होने वाली भूमि, घर, बगीचा, आदि अचल सम्पत्ति) खरीदकर अथवा बेचकर जिसको पश्चात्ताप होने लगे तो वह दस दिन की अवधि में (यदि वस्तु खरीदी हो तो) वापस कर दे ताकि (यदि विक्रय की हो तो) वापस ले ले।¹³ इस नियम का पालन न किये जाने पर दण्ड का भी प्रावधान किया गया।¹⁴ इसी अध्याय में कहा गया कि निर्यात के लिए प्रतिषिद्ध किए गये पदार्थ, (यथा दुर्भिक्ष के कारण अन्नादि, पशूनन्ति आदि के लिए गाय, भैंस, बैल, आदि या इसी प्रकार के अन्य पदार्थ) को लोभ अथवा अधिक लाभ की लालसा और आशा से दूसरे देश में ले जाने वाले व्यापारी की सम्पूर्ण सम्पत्ति राजा

को जब्त कर लेनी चाहिए।¹⁵ शुल्क (चुंगी-कस्टम) से बचने के लिए शुल्कस्थान का मार्ग छोड़कर अन्य मार्ग से सामग्री ले जाने वाला; असमय (रात्रि आदि में गुप्त रूप से) विक्रय करने वाला, चुंगी कम लगाने के लिए तौल, माप या मूल्य को असत्य (कम या अधिक) बतलाने वाला व्यापारी चुंगी शुल्क के वास्तविक मूल्य से आठ गुणा अधिक द्रव्य से दण्डनीय होता है।¹⁶ यहाँ यह व्यवस्था भी की गई कि राज्य-व्यवस्था बाजार में विक्रय-योग्य समस्त वस्तुओं में क्रय-विक्रय का मूल्य निर्धारण मुख्य व्यापारियों के समक्ष उनसे विचार-विनिमय करके आयात-निर्यात की दूरी, स्थान, समय वृद्धि, क्षय, लाभ आदि को ध्यान में रखकर निर्धारित करे।¹⁷ साथ ही राज्य का यह दायित्व है कि प्रत्येक छह मास में तुलामान, प्रतीमान, तराजू, पैमाना, आदि के बाजार में प्रयोग का परीक्षण निरन्तर कराया जाये ताकि सामान्य व्यक्ति के साथ कोई छल या प्रवंचना न हो सके तथा मापन – यंत्र ठीक प्रकार काम करते हों।¹⁸ इसी क्रम में व्यवस्था की गई कि यदि प्रत्यर्थी अधिक धन लेकर कम बतलावे तथा यदि वादी कम धन देकर भी अधिक बताये तो न्यायाधिकारी को असत्य बताई गई राशि से दो गुणा धनराशि का दण्ड निर्धारित करना चाहिए।¹⁹ इसलिए पशु, गौ, अश्व, मनुष्य, धन –निर्णय, सुवर्ण, पृथ्वी, साक्ष्य, मधु, घृत, पशु से उत्पन्न अन्य पदार्थ, (यथा, दूध, दही, मक्खन, आदि), वस्तु, वस्त्र, धान्य, पुष्प, फल, नाव, ऊँट, गधा, वाहन, जल, सरोवर, कूप, नदी, नहर, कमल, रत्न, चांदी, व्यापार आदि के विषय में असत्य-संभाषण करना केवल निन्दित, गर्हणीय तथा त्याज्य कार्य मात्र नहीं है अपितु ऐहिक एवं परालौकिक दोनों स्तरों पर दण्डनीय अपराध है।²⁰ यह व्यवस्था भी की गई कि अधिक मूल्य वाली वस्तु में थोड़े मूल्यवाली वस्तु की मिलावट कर साधारण वस्तु को अत्युत्तम बताकर तौल या मात्रा में कम और दूरी अथवा अन्धकार के कारण तिरोहित वास्तविक स्वरूप वाली वस्तुएँ विक्रय के योग्य नहीं होती है और इस प्रकार मिलावटी वस्तु का व्यापारी दण्डनीय है।²¹ ग्रामवासी, देशवासी या व्यापारी समुदाय का जो व्यक्ति सत्यादि की शपथपूर्वक की गई संविदा, समय-सीमा आदि को लोभ के कारण भंग करे उसे राज्य शासन द्वारा राष्ट्र से निर्वासित किए जाने का दण्ड प्राविधानित किया गया था।²² इसके साथ ही संविदा-भंग के दोषी व्यक्ति का निग्रहण एवं अर्थदण्ड का भी विधान किया गया था।²³ साथ ही यह प्रावधान भी किया गया कि राज्य शासन व्यवस्था प्रजा की रक्षा के मुख्य दायित्व की पूर्ति किए बिना यदि बलि, कर, शुल्क, प्रतिभाग तथा दण्ड को ग्रहण कर शासन चलाने का कार्य करे तो वह वैध नहीं है।²⁴

नवम् अध्याय में व्यवस्था की गई कि राज्य सत्ता द्वारा निश्चित कार्य में नियुक्त अधिकारी यदि घूस आदि के धन की ऊष्मा से कार्य को पूर्ण न करे अथवा कार्य को नष्ट कर दे तो शासन –सत्ता को उसकी सम्पत्ति अपने अधीन कर लेनी चाहिए।²⁵ इस प्रकार राजा और उसकी समस्त कार्यपालिका से यह अपेक्षा की गई है कि वे प्रजा के अनुरक्षण तथा सदाचारियों की रक्षा और कण्टकों (चोरी करने वालों, धोखा व कपट के आश्रय से ठगने वालों, असत्य संभाषण से जीवन यापन करने वालों, आग लगाने वालों, अथवा डाका डालने वालों, आदि) के शोधन (दण्डित कर नष्ट) करने से प्रजापालन में प्रयत्नशील एवं तत्पर रहें।²⁶

मूल्य में तथा तौल में या मापन में लोगों के देखते हुए भी प्रकाश में विभिन्न वस्तुओं के व्यापार से आजीविका चलाने वाले यदि वंचना करते हैं, मनुष्यों को ठगते हैं तो वे प्रत्यक्ष चोर हैं, जबकि संध डालकर अथवा जंगल आदि में छिपकर रहते हुए दूसरों के धन का हरण करने वाले प्रच्छन्न चोर हैं।²⁷ उत्कोच (घूस) लेने वाले, डराकर या बहकाकर धन लेने वाले, ठग, धन के लाभ होने की असत्य बातें कहकर लोगों से धन लेने वाले, उत्तम वेष अथवा आवरण धारण कर अपने दूषित कर्म छिपाकर लोगों से धन लेने वाले, अशिक्षित शिक्षक, अकुशल कार्मिक, शिल्पकार, आदि प्रत्यक्ष कण्टक हैं जिनका शोधन करना राज्य का धर्म है।²⁸ राज्य व्यवस्था को चाहिए कि इस प्रकार के कर्मों को करने वाले वंचकों को भली भाँति ज्ञात करने के लिए उसी प्रकार का कार्य करने वाले, गुप्त, सदाचारी एवं विविध वेष धारण करने वाले दूतों के माध्यम से उनकी समस्त जानकारी तथा स्थानादि ज्ञात कर उन्हें नियंत्रित किया जाये।²⁹ राजा को चाहिए कि वह उन वंचकों के गुप्त या प्रत्यक्षकृत अपराधों को सार्वजनिक रूप से घोषित कर उन्हें सम्यक् रूप से दण्डित करे।³⁰ संभवतः हममें से अधिकांश को यह जानकर विस्मय होगा कि मनु यह व्यवस्था करते हैं कि जो व्यक्ति स्वयं स्वस्थ होते हुए भी राजमार्ग पर गन्दगी फैलाये उसे धन से दण्डित किया जाये और राजमार्ग की सफाई भी उसी व्यक्ति से कराई जाये।³¹ शुद्ध पदार्थ में अशुद्ध पदार्थ मिलाकर दूषित करने वाले, नहीं छेदने योग्य माणिक्य आदि को छेदने वाले, और छेदने के योग्य मोती, माणिक्य आदि को ठीक योग्य स्थान पर नहीं छेदने वाले व्यक्ति को अर्थदण्ड प्रदान किया जाने का प्रावधान किया गया था और यह भी कि जिसके उपर्युक्त पदार्थ दूषित अथवा नष्ट हो गये हैं उसे उन पदार्थों का मूल्य पदार्थ-दूषक-व्यक्ति द्वारा क्षतिपूर्ति के रूप में दिलाया जाना भी प्राविधानित था।³² इसके अतिरिक्त जो मनुष्य समान मूल्य देने वाले किसी को अच्छी या अधिक वस्तु दे तथा किसी अन्य को समान मूल्य पर निष्कृष्ट या कम वस्तु दे अथवा समान मूल्य की कोई वस्तु किसी को कम मूल्य पर दे और किसी को अधिक मूल्य पर दे तो वह व्यक्ति अर्थदण्ड का भागी होगा।³³ जो मनुष्य नहीं जमने वाले बीज को जमने वाला कहकर विक्रय करे तथा अच्छे बीज में दूषित बीज मिलाकर बेचे और इस प्रकार व्यापार तथा वाणिज्य की मर्यादा का भेद एवं अतिक्रमण करे उसे कठोरतम दण्ड का प्रावधान किया गया।³⁴ इस सबसे से अधिक यदि सुवर्णकार किसी प्रकार अच्छी धातु के साथ अन्य ही धातु की मिलावट कर विक्रय करता हो और प्रमाणित हो जाये तो उसे क्रूरतम दण्ड दिया जाये।³⁵ इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनुस्मृति में वाणिज्य, व्यापार, क्रय-विक्रय, बाजार तथा मनुष्यों के आर्थिक अन्तर्सम्बन्धों के विभिन्न आयामों पर भली भाँति विचार किया गया था और नागरिक के क्रेता के रूप में, उपभोक्ता के रूप में, मनुष्य के रूप में और ग्राहक के रूप में श्रेष्ठतम, शुद्धतम, पूर्णतम और उच्चतम वस्तु पाने के स्वाभाविक अधिकार की पूर्ण रक्षा की गई थी।

आचार्य कौटिल्य का प्रख्यात ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' मूलतः राज-व्यवस्था तथा लोक प्रशासन का अनूठा, अतुलनीय, अद्भुत एवं सुव्यवस्थित रूप प्रस्तुत करता है। साथ ही 'अर्थशास्त्र' प्राचीन भारतीय राजनीतिक

चिन्तन के उपलब्ध स्रोतों का प्रतिनिधि ग्रन्थ भी है। कौटिल्य अपने समाहर्ता (कर-संग्रहण का मुख्याधिकारी) को निर्देश देता है कि वह दुर्ग, राष्ट्र, खनि, सेतु, वन एवं व्रज के साथ-साथ व्यापार सम्बन्धी क्षेत्रों, स्थानों और कार्यों का नियमित निरीक्षण करता रहे।³⁶ यह भी व्यवस्था की गई कि आकर का अध्यक्ष स्वयं को धातुशास्त्र, रसायन, पाकविधि, मणिराग, आदि विषयों में निपुण बनाकर नियमित परीक्षण एवं निरीक्षण के द्वारा धातुओं की बिक्री, रक्षा, शुद्धता तथा तौल व माप का नियंत्रण करता रहे।³⁷ धातुओं और रत्नों की चोरी अथवा शासन की अनुमति के बिना उनका व्यापार करना दण्डनीय अपराध था।³⁸ अधम, अनुत्तम और घटिया तथा मिलावटी सामग्री का विक्रय करने वाले व्यापारी को दण्डित किया जाना भी प्राविधानित किया गया।³⁹ विभिन्न विक्रय योग्य पदार्थों का राज्य-निरीक्षण में संग्रहण, वणिक्पथों (बाजारों) में सहज उपलब्धता, सामग्री की शुद्धता, आदि सुनिश्चित करना आकर अध्यक्ष का कर्तव्य बताया गया था।⁴⁰ सुवर्णाध्यक्ष का दायित्व था कि वह सुवर्ण तथा अन्य आभूषणों की निर्माण प्रक्रिया, क्रय-विक्रय व्यवस्था, तौल-माप, आदि का सूक्ष्म निरीक्षण करता रहे तथा नियमों का उल्लंघन करने वालों को दण्डित कराये।⁴¹ कांटे या तराजू का ठीक प्रकार न होना (तुलाविषम), नकली द्रव्य को मिलाकर असली द्रव्य को चुरा लेना (अपसारण), सोने में खोटा करके विक्रय करना (विस्रावण), सोने के पत्ते में मढ़कर बीच में लाख से जोड़ देना और विक्रय करना (पेटक), आदि प्रकारों से सुवर्ण, चाँदी अथवा अन्य आभूषणों में चोरी करने वाले स्वर्णकारों द्वारा मनुष्यों को ठगा न जा सके ओर मिलावटी सामग्री का क्रय-विक्रय रोका जा सके इस प्रकार की व्यवस्था करना सुवर्णाध्यक्ष का कर्तव्य है।⁴² साथ ही व्यवस्थाओं और नियमों का उल्लंघन कर कपटपूर्ण व्यापार करने वालों को दण्डित करना भी सुवर्णाध्यक्ष का ही दायित्व है।⁴³ व्यापार केन्द्रों (पण्य) के अध्यक्ष का दायित्व है कि वह स्थल अथवा जल में उत्पन्न तथा स्थलपथ अथवा वारिपथ (जलमार्ग) से विक्रय हेतु बाजार में आई हुई अनेक प्रकार की बहुमूल्य तथा अल्पमूल्य वस्तुओं के तारतम्य और उनकी लोकप्रियता (माँग) तथा अप्रियता (अरुचि) आदि के सम्बन्ध में भली भाँति जानकारी प्राप्त कर लें। राज्य में उत्पन्न तथा राज्य-नियंत्रण में विक्रयार्थ बाजार में लाई गई वस्तुओं की बिक्री का स्थान नियत करे।⁴⁴ अन्य देशों में उत्पन्न वस्तुओं का विक्रय अनेक स्थानों पर कराये। स्वदेश तथा परदेश में उत्पन्न वस्तुओं का विक्रय-प्रबन्धन इस प्रकार किया जाए कि सामान्यजनों को किसी प्रकार का कोई कष्ट न हो। अनेक स्थानों पर विक्रय की जा रही वस्तुओं का विक्रय मूल्य असमान न हो अपितु एक ही हो। विदेशों से वस्तुओं के आयात में करों में कुछ रियायत दी जाए। नाव तथा जहाज से सामान मँगाने वाले व्यापारियों को राजकर में छूट दी जाए।⁴⁵

पौतवाध्यक्ष (तौल-माप की जाँच करने वाला मुख्य अधिकारी) को चाहिए कि वह शास्त्रोक्त विधि से तोलने, मापने के साधन (तराजू, बाट आदि) बनवाए। कौटिल्य ने यह भी विधान किया कि पौतवाध्यक्ष प्रत्येक चार माह में तुला, बाट, द्रोण, आदि का निरीक्षण करता रहे। जो व्यापारी इस प्रकार निर्धारित समय पर अपने तराजू, बाट आदि मापन-साधनों तथा यंत्रों की जाँच न कराए उसे अर्थदण्ड द्वारा दण्डित किया

जाए।⁴⁶ शुल्काध्यक्ष का यह कर्तव्य है कि वह शुल्कशाला की समुचित व्यवस्था तथा देखभाल करे, कर्मचारियों तथा व्यापारियों का विस्तृत विवरण लिखित रूप में रखे, विक्रय हेतु आए सामान पर मुद्रा अंकित किया जाना सुनिश्चित करे, नकली मुद्रा अंकित कराने वाले व्यापारियों को दण्डित करे, मुद्रा लगाये बिना तथा शुल्क दिए बिना सामग्री का व्यापार करने वालों को दण्ड दे, सामान का नाम बदलने वाले, मुद्रा लगाकर मिटा देने वाले, अधिक चुंगी देने के डर से अपने सामान और उसके मूल्य को कम कर बताने वाले, प्रतिद्वन्दिता के कारण पदार्थ का मूल्य बढ़ा देने वाले, श्रेष्ठ सामग्री के स्थान पर उसी प्रकार की पेटिका में हीन कोटि की सामग्री रखकर विक्रय करने वाले, तथा सामान की पेटिका में नीचे के भाग में श्रेष्ठ सामग्री भरकर ऊपर से हीन सामग्री रखकर कम शुल्क देने वाले व्यापारियों को नियन्त्रित रखे तथा नियमानुसार दण्डित भी करे।⁴⁷ कौटिल्य ने यह व्यवस्था भी दी है कि यदि मित्रता अथवा रिश्वत के कारण शुल्काध्यक्ष किसी व्यापारी को पूर्वोक्त अपराधों पर निर्धारित से कम दण्ड दे अथवा दण्डमुक्त कर क्षमा कर दे तो अपराध के अनुपात से आठ गुणा दण्ड शुल्काध्यक्ष को भी दिया जाए। इसलिए सामग्री की बिक्री तौल कर अथवा गिनकर भली भाँति करनी चाहिए जिससे छल कपट न हो सके। जो व्यापारी छिपकर या किसी छल से चुंगी दिए हुए सामान के साथ बिना चुंगीघर (शुल्कगृह) को लॉंघे चला जाए अथवा जो चुंगी दिए हुए सामान के साथ बिना चुंगी दिए हुए सामान को भी ले जाए, अथवा चुंगी दिए हुए सामान में बिना चुंगी दिया हुआ सामान मिला दे अथवा जो अच्छी सामग्री में घटिया सामग्री की मिलावट करे, ऐसे सब व्यापारियों को अपराध के अनुपात में दण्ड की व्यवस्था भी की गई थी।⁴⁸ इसके अतिरिक्त अन्यान्य विभागों के अध्यक्षों के दायित्वों की परिगणना में कौटिल्य ने उनके अन्य कर्तव्यों के साथ—साथ निरन्तर यह निर्देश भी प्रदान किए हैं कि वे अपने विभागों के अन्तर्गत समस्त कार्य— व्यापार का सूक्ष्म निरीक्षण, परीक्षण तथा नियन्त्रण करें ताकि प्रजाजनों के साथ छल—कपट पूर्ण व्यवहार किसी के भी द्वारा न किया जा सके।⁴⁹ सुशासन की ऐसी सुव्यवस्थित अवधारणा का प्राचीन भारतीय आदर्श आज भी हमारे लिए निश्चय ही पथप्रदर्शक हो सकता है। प्राचीन भारत के इस गौरवपूर्ण आख्यान का उद्देश्य अपने अतीत का महिमामण्डन नहीं है अपितु मात्र यही आशय है कि अपने सभ्यताजन्य संस्कारों तथा श्रेयस्कर परम्पराओं में से आज भी बहुत कुछ ऐसा है जो हमारी वर्तमान पीढ़ी और समाज के लिए उपयोगी हो सकता है। तथापि प्राचीन भारतीय राजनीतिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था के इस उल्लेख की उपादेयता तथा ग्राह्य बिन्दुओं पर शेष चर्चा फिर कभी। अभी तो मात्र यह इंगित करना ही उद्देश्य है कि प्राचीन भारत में भी नागरिकों को कपटपूर्ण व्यापार—व्यवहार से बचाये रखने की समुचित व्यवस्था राज्य—शासन द्वारा की गई थी। वर्तमान समाजों की संस्थाएँ, आवश्यकताएँ, अपेक्षाएँ और संरचनाएँ भिन्न और विशिष्ट हैं। अतः समकालीन समाधानों की अनिवार्यता को सूचित करती हैं।

इसीलिए 'उपभोक्ता' हितों के श्रेष्ठतर संरक्षण के लिए और उस प्रयोजन हेतु उपभोक्ता परिषदों तथा उपभोक्ता विवादों के निपटारे हेतु अन्य प्राधिकारियों की स्थापना करने के लिए और उससे सम्बन्धित विषयों के लिए उपबन्ध करने के लिए भारतीय गणराज्य ने 24 दिसम्बर 1986 को 'उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986' अधिनियमित किया।⁵⁰

अधिनियम के प्रावधानों के अनुरूप 'उपभोक्ता' से ऐसा कोई व्यक्ति अभिप्रेत है जो किसी प्रतिफल के लिए संदाय, वचन, भागतः संदाय, भागतः वचन, या आस्थगित संदाय की पद्धति के अधीन वस्तु का क्रय करता है, अथवा सेवा प्राप्त करता है, प्रयोगकर्ता है और उसे पुनः विक्रय या किसी वाणिज्यिक प्रयोजन के लिए अभिप्राप्त नहीं करता है।⁵¹ इस उपभोक्ता को विक्रीत वस्तु यदि उपयोग के समय जीवन व सुरक्षा के लिए जोखिमपूर्ण है, जोखिमपूर्ण होने की संभावना है, तत्समय प्रवृत्त किसी विधि द्वारा या उसके अधीन, ऐसी वस्तुओं से सम्बन्धित किसी मानक, जैसा अनुपालन किया जाना अपेक्षित है, के उल्लंघन में है, अथवा अनुचित व्यापार अथवा प्रतिबन्धित व्यापार प्रथा के उपभोग द्वारा प्रदत्त है, विधि द्वारा या उसके अधीन नियत मूल्य से अधिक मूल्य में प्रदत्त है अथवा त्रुटियुक्त है, तो वह उपभोक्ता परिवाद कर सकता है।

उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 का एक उद्देश्य यह भी है कि उपभोक्ता आन्दोलन को गतिमान बनाया जाय। उपभोक्ता के अधिकारों को बढ़ावा एवं संरक्षण देने के लिए अधिनियम की धारा-4 के निबन्धनों में केन्द्रीय उपभोक्ता संरक्षण परिषद का गठन भी किया गया है। केन्द्रीय परिषद का उद्देश्य उपभोक्ताओं के अधिकारों का संवर्धन और संरक्षण करना है, जैसे— जीवन और सम्पत्ति के लिए परिसंकटमय माल एवं सेवाओं के विपणन के विरुद्ध संरक्षण का अधिकार; माल या सेवायें, जैसी भी स्थिति हो, की गुणवत्ता, मात्रा, शक्ति, शुद्धता, मानक और मूल्य के बारे में सूचित किए जाने का अधिकार जिससे कि अनुचित व्यापारिक व्यवहार से उपभोक्ता को संरक्षण दिया जा सके; जहाँ भी संभव हो वहाँ प्रतिस्पर्धी मूल्यों पर विभिन्न किस्मों का माल एवं सेवायें सुलभ कराने का आश्वासन दिये जाने का अधिकार; सुने जाने और यह आश्वासन दिए जाने का अधिकार कि उपभोक्ताओं के हितों पर समुचित पीठों में सम्यक् रूप से विचार किया जाएगा; अनुचित व्यापारिक व्यवहार या प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार या उपभोक्ताओं के अनैतिक शोषण के विरुद्ध प्रतितोष प्राप्त करने का अधिकार; और उपभोक्ता शिक्षा का अधिकार।⁵²

केन्द्रीय परिषद् की भाँति ही राज्य स्तर पर राज्य उपभोक्ता संरक्षण परिषद् की स्थापना का प्रावधान एवं जिला स्तर पर जिला उपभोक्ता संरक्षण परिषद् का प्रावधान अधिनियम द्वारा किया गया है। इन सभी परिषदों में केन्द्रीय, राज्य तथा जिला स्तर से कार्यपालिका के सदस्यों के अतिरिक्त शासकीय अथवा अशासकीय सदस्यों के नामित किए जाने की भी व्यवस्था है। अधिनियम में इसके साथ-साथ जिला, राज्य और केन्द्र के स्तर पर उपभोक्ता विवाद प्रतितोष अभिकरणों की स्थापना भी प्राविधानित है जिनमें एक महिला सदस्य की अनिवार्यता है। जिला पीठ बीस लाख रुपये तक, राज्य आयोग बीस लाख रुपये से एक

करोड़ रुपये तक तथा राष्ट्रीय आयोग एक करोड़ रुपये से अधिक के माल या सेवा का मूल्य या दावा प्रतिकर के परिवादों को ग्रहण करने की अधिकारिता से संयुक्त है। जिला पीठ परिवादों की विधिसम्मत सुनवाई तथा पक्षकारों के अभिकथनों के सम्यक् परीक्षण के उपरान्त, जहाँ परिवाद में अन्तर्विष्ट अभिकथन में वस्तुओं का विश्लेषण या परीक्षण अपेक्षित नहीं हैं वहाँ तीन माह की अवधि में, तथा जहाँ परिवाद में वस्तुओं का विश्लेषण या परीक्षण अपेक्षित है वहाँ पाँच माह की अवधि में परिवाद को विनिश्चित करने का प्रयास करेगी। जिला पीठ की कुछ कार्यवाही भारतीय दण्ड संहिता की धाराओं के अन्तर्गत न्यायिक कार्यवाही है और जिला पीठ को भारतीय दण्ड प्रक्रिया संहिता की कुछ धाराओं के प्रयोजनार्थ सिविल न्यायालय समझा जाना भी अधिनियम में प्राविधानित है। जिला पीठ को परिवाद के सम्बन्ध में विनिर्दिष्ट त्रुटि या परिवाद में अन्तर्विष्ट किसी अभिकथन के प्रमाणित होने का समाधान होने पर विरोधी पक्षकार को निम्नांकित में से कोई एक या अधिक बातें करने का निर्देश देने वाला आदेश जारी करने का अधिकार है:— प्रश्नगत माल में से समुचित प्रयोगशाला द्वारा प्रकट की गई त्रुटि को दूर करना; माल को उसी वर्णन के नए और त्रुटिहीन माल से बदलना; परिवादी द्वारा विरोधी पक्षकार को संदत्त, यथास्थिति, कीमत या प्रभारों को परिवादी को वापस लौटाना; ऐसी रकम का संदाय करना जो विरोधी पक्षकार की उपेक्षा के कारण उपभोक्ता द्वारा सहन की हुई हानि या क्षति के लिए परिवादी को प्रतिकर के रूप में अधिनिर्णीत की गई है; प्रश्नगत मालों के दोषों या सेवाओं में कमी को दूर करना, अनुचित व्यापार प्रथा या प्रतिबन्धित व्यापार प्रथा को बन्द करना या उसकी पुनरावृत्ति नहीं करना; जोखिमपूर्ण माल के विक्रय का प्रस्ताव नहीं करना; जोखिमपूर्ण माल विक्रय के लिए प्रस्तावित किया गया हो तो उसको वापस लेना; जोखिमपूर्ण मालों के विनिर्माण बन्द करना तथा ऐसी सेवाओं को, जो जोखिम प्रकृति की हों, का प्रस्ताव करने से प्रतिविरत होना; ऐसी रकम का भुगतान करना जो इसके लिए अवधारित की जाए; भ्रामक विज्ञापन के प्रभाव को ऐसे विरोधी पक्षकार, जो ऐसे भ्रामक विज्ञापन जारी करने के लिए उत्तरदायी है, के व्यय पर निष्क्रिय करने के लिए सुधार किए गये विज्ञापन जारी करना; और पक्षकारों को पर्याप्त क्षतिपूर्ति दिलाना।

जिलापीठ द्वारा किए गये आदेश से व्यथित कोई व्यक्ति उस आदेश की तिथि से तीस दिनों की अवधि में उस आदेश के विरुद्ध विहित रीति से और विहित प्रारूप में राज्य आयोग को अपील कर सकता है। इसके अतिरिक्त परिवादी के आवेदन पर या स्वप्रेरणा से राज्य आयोग, कार्यवाही की किसी भी अवस्था में राज्य के अन्दर जिलापीठ के समक्ष लम्बित किसी परिवाद को किसी अन्य जिलापीठ के समक्ष अन्तरण कर सकता है, यदि न्यायहित में ऐसा अपेक्षित है। राज्य आयोग तथा राष्ट्रीय आयोग के समक्ष प्रस्तुत किसी भी अपील की सुनवाई शीघ्रता से किये जाने तथा अपील के ग्रहण किये जाने की तिथि से नब्बे दिवस की अवधि में अपील का अन्तिम रूप से निर्धारण कर दिये जाने की अपेक्षा अधिनियम में की गई है। जिला पीठ, राज्य आयोग या राष्ट्रीय आयोग का प्रत्येक आदेश, यदि इस अधिनियम के उपबन्धों के अधीन ऐसे

आदेश के विरुद्ध कोई अपील नहीं की गई है, अन्तिम होगा। यदि उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम के अधीन किए गये किसी अन्तरिम आदेश का अनुपालन नहीं किया जाता है, वहाँ जिलापीठ, राज्य आयोग अथवा राष्ट्रीय आयोग द्वारा यथास्थिति, ऐसे आदेश का अनुपालन न करने वाले व्यक्ति की सम्पत्ति कुर्क करने के आदेश निर्गत किए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त यदि कोई व्यापार या व्यक्ति, जिसके विरुद्ध परिवाद किया गया है, अथवा परिवादी, यथास्थिति, जिला पीठ, राज्य आयोग अथवा राष्ट्रीय आयोग द्वारा किए गये किसी आदेश का अनुपालन करने में असमर्थ रहेगा तथा लोप करेगा तो ऐसा व्यापारी, व्यक्ति अथवा परिवादी, ऐसे कारावास से, जिसकी अवधि एक मास से कम नहीं होगी, किन्तु जो अधिकतम तीन वर्ष तक विस्तारित हो सकेगी, अथवा अर्थदण्ड, जो दो हजार रुपये से कम नहीं होगा, किन्तु जो दस हजार रुपये तक विस्तारित हो सकेगा, अथवा दोनों से दण्डनीय होगा। भारतीय दण्ड प्रक्रिया संहिता में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी उक्त आदेशों के विरुद्ध कोई अपील जिलापीठ द्वारा किए गये आदेश को राज्य आयोग के समक्ष, राज्य आयोग के द्वारा किए गये आदेश को राष्ट्रीय आयोग के समक्ष तथा राष्ट्रीय आयोग के आदेश को उच्चतम न्यायालय के समक्ष की जा सकती है, इसके सिवाय, जिला पीठ, अथवा राज्य आयोग, अथवा राष्ट्रीय आयोग के किसी आदेश से कोई अपील किसी भी न्यायालय के समक्ष नहीं होगी। उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 एक प्रकार से भारतवर्ष में नागरिक अधिनियमों के संवैधानिक संरक्षण के इतिहास में सम्भवतः सर्वाधिक क्रान्तिकारी प्रयास है। न्यायिक व्यवस्था में सामान्य रूप से वादों के निपटारे में वर्षों का समय व्यतीत किये जाने की समस्या के चलते उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 समयबद्ध रूप से विवादों के सहज, सरल तथा न्यायिक रूप से समाधान करने की क्षमता के कारण विशिष्ट तथा नागरिक – मित्रवत कानून हैं यह अधिनियम नागरिकों को शुद्धतायुक्त, गुणवत्तायुक्त, उचितमात्रायुक्त तथा सम्यक् मापयुक्त सामग्री प्राप्त करने के अधिकार की रक्षा करता है तथा आधुनिक अधिकार व्यवस्था को श्रेष्ठतम स्वरूप प्रस्तुत करता है। इस अधिनियम की विशिष्टताएँ नागरिकों का कम व्यय, समय की बचत, नमनीय विधिक प्रक्रिया और असीमित क्षेत्राधिकार है। यह अधिनियम सरल प्रक्रिया, किञ्चित्मात्र शुल्क, बिना अधिवक्ता स्वयं न्यायिक वाद-विवाद में सहभागिता की सुविधा, आदि के कारण सामान्य नागरिकों में अत्यन्त लोक प्रिय हो गया है। इसी कारण प्रतिवर्ष हजारों वाद देश भर के विभिन्न उपभोक्ता न्यायालयों के समक्ष आते हैं जिनमें क्रय-विक्रय के अनेक विषयों पर क्रेताओं और उपभोक्ताओं के विवादों का त्वरित निपटारा किया जा रहा है। यह अधिनियम अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत उपभोक्ता अधिकारों से संयुक्त है। इस समय केन्द्रीय आयोग के अतिरिक्त 35 राज्य आयोग तथा लगभग छह सौ से अधिक जिला उपभोक्ता फोरम इस अधिनियम के प्रावधानों के अन्तर्गत कार्यरत हैं। केन्द्रीय सरकार ने इस अधिनियम को राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त होने के दिन 24 दिसम्बर को 'राष्ट्रीय उपभोक्ता दिवस' घोषित किया है। इसके अतिरिक्त 15 मार्च को 'विश्व उपभोक्ता अधिकार दिवस' के रूप में मनाया जाता है। उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 के अधीन

कार्यरत उपभोक्ता अदालतों में, विवादों के निपटारे का औसत, 21 अप्रैल, 2011 तक लगभग 90 प्रतिशत (89.79) था। सुखद रूप से यह अधिनियम सरकारी, निजी, व्यक्तिगत, सहकारी तथा कार्रपोरेट सभी व्यवसाय— क्षेत्रों को प्रभावित करने में सक्षम है।

बन्धुओं, उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम के कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रावधानों का उल्लेख मैंने इस दृष्टि से किया है कि आप इस अधिनियम की शक्ति, सामर्थ्य, विस्तार, व्यापकता, उद्देश्य, लक्ष्य तथा अधिकारिता से सामान्यतः परिचित हो सकें। संभवतः आप इस सत्य से अवगत हैं कि ब्रिटिश पराधीनता से मुक्ति के उपरान्त हमने अपने नव—स्वतंत्र राष्ट्र—राज्य के लिए जो राजनीतिक एवं प्रशासनिक संरचना निर्मित की उसमें आयोजन व्यक्ति केन्द्रित न होकर संस्था केन्द्रित ही थी। वस्तुतः धार्मिक आधार पर देश के विभाजन की त्रासदी का दंश निस्सन्देह भविष्य में विभिन्न प्रकार की विभाजक शक्तियों के उद्भव की आशंका से त्रस्त हमारे राजनीतिक नेतृत्व को अनायास ही असुरक्षित एवं सशंकित बना बैठा और इसीलिए हमारी शासन व्यवस्था प्रायशः सामाजिक—सांस्कृतिक विकृतियों के समाधान राजनीतिक एवं प्रशासनिक अधिष्ठान से मांगती रही। परिणामस्वरूप सामाजिक संस्थाओं का क्रमशः अनुपयोगी, निष्प्रोज्य तथा औचित्यहीन हो जाना हमने असहाय तथा निरुपाय होकर देखा। इसके साथ ही सांस्कृतिक अधिष्ठान का पराभव भी अवश्यभावी था। संस्कृति और धर्म के मध्य वैचारिक एवं सांस्कृतिक घालमेल तथा सोद्देश्य भ्रान्ति का विस्तार राजनीतिक सत्ता प्रतिष्ठान के हितों के सन्धान में कदाचित् सहायक ही था। अतः समस्त पारम्परिक मूल्यों तथा विश्वासों पर व्यापक मिथकीयता का आवरण चढ़ाना और सम्पूर्ण सांस्कृतिक—सभ्यतामूलक आस्थाओं को प्रतिगामी एवं प्रगतिविरोधी मानना, समझना, बताना और घोषित करना प्रथमतः आक्रान्ताओं एवं साम्राज्यवादी शक्तियों की आवश्यकता थी और तदनन्तर नव—स्वतंत्र राष्ट्र—राज्य के अग्रसर सत्ताधीशों की मानसिक दुर्बलता थी। इसकी तार्किक परिणति इसी रूप में संभव थी कि हम व्यक्ति को अपने विचार, चिन्तन, मनन, अध्ययन, अनुसन्धान, अध्यापन तथा अन्वेषण का केन्द्र बिन्दु मानने के स्थान पर राजनीतिक सत्ता अधिष्ठान और उससे संयुक्त संस्थाओं—अभिकरणों को अपने सम्पूर्ण कार्यकलापों का प्रयाण—बिन्दु स्वीकार करते। परिणामतः राज्य निर्माण, संस्था निर्माण, लोकतंत्र की परम्परा का निर्माण, निर्वाचन की व्यवस्था का निर्माण, सहभागिता की सुनिश्चितता, क्षेत्रीय असन्तुलनों में प्रतिनिधित्व के माध्यम से कमी, संघर्षों के उपशमन हेतु प्रक्रियाओं का निर्माण, दूर्वाजड़ों तक लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व, विभिन्न उपेक्षित वर्गों, समूहों, जातियों, समुदायों, सम्प्रदायों, भाषा—भाषियों का निर्णय निर्माण की प्रक्रिया में समावेश, आदि हमारी राष्ट्र—राज्य निर्माण आयोजना के अनिवार्य एवं महत्त्वपूर्ण अंग बने परन्तु सम्पूर्ण कार्यक्रम व्यक्ति निर्माण के प्रश्न से सर्वथा विमुख बना रहा। पूर्वोक्त सभी प्रयोजनों की प्राप्ति व्यक्ति—निर्माण की योजना के बिना अपूर्ण ही रहनी स्वाभाविक थी और इसीलिए हम न संस्थाओं का भली भाँति निर्माण कर पाये, न लोकतांत्रिक परम्पराओं को बनाए रख सके, न संघर्षों का उपशमन कर सके और न ही विद्यमान सत्ता—प्रतिष्ठान के प्रति

सामान्य नागरिक के हृदय में सम्मान, आस्था और विश्वास की भावना का संचार ही कर सके। हमारे सारे प्रयत्न दिशाहीन थे। अतः वे सभी अनिवार्यतः निष्फल सिद्ध हुए हैं। संभवतः इसीलिए किसी भी अधिनियम के कठोरतम प्रावधान भी नागरिकों को उनके हितों की सुरक्षा के प्रति आश्वस्त प्रदान करने में सर्वथा अक्षम सिद्ध होते हैं और राज्य के विहित आदेशों का उल्लंघन एवं अधिनियमों के प्रावधानों के विपरीत आचरण करने वालों के मन-मस्तिष्क में राज्य के भय का संचार करने में पूर्णतः असमर्थ भी दृष्टिगोचर होते हैं।

मेरे उक्त कथन का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि हम राजनीतिक-प्रशासनिक अभिकरण के रूप में अपने कर्तव्यों के पालन के परीक्षण में अनुत्तीर्ण हुए हैं। परन्तु निश्चय ही मैं यह अवश्य कहना चाहता हूँ कि हम अपने कर्तव्य-पथ से विचलित हुए हैं, मार्ग भटक गये हैं और दिग्भ्रमित हो गये हैं। क्या यह सत्य नहीं है कि उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम के पूर्वोक्त प्रावधानों के विद्यमान रहते हुए भी हममें से अधिकांश लगभग प्रतिदिन किसी न किसी विक्रेता अथवा सेवा-प्रदाता द्वारा ठगे जा रहे हैं? क्या यह सत्य नहीं है कि हम अपने दैनन्दिन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु जिन वस्तुओं अथवा सेवाओं पर निर्भर हैं उनकी प्राप्ति में हमें प्रायशः निर्धारित से अधिक मूल्य का भुगतान करना पड़ता है? क्या यह सत्य नहीं है कि हम अधिकांशतः क्रीत सामग्री, सेवा अथवा वस्तु की गुणवत्ता, मात्रा, मानक, शक्ति, शुद्धता और मूल्य के विषय में आश्वस्त न होने पर भी उक्त सामग्री, वस्तु अथवा सेवा उसी स्रोत से प्राप्त करने को बाध्य होते हैं? क्या यह सत्य नहीं है कि प्रायः हम अपने निजी अनुभव अथवा एकत्रित ज्ञान के आधार पर राज्य की प्रशासनिक अथवा न्यायिक संस्थाओं की कार्यप्रणाली से सशंकित एवं/अथवा आतंकित रहते हैं? क्या यह सत्य नहीं है कि बहुधा हमारे प्रशासनिक अथवा न्यायिक अधिष्ठानों में पद-स्थापित एवं एतदर्थ सत्ता-प्राप्त व्यक्ति सामान्य नागरिक की समस्याओं के प्रति संवेदनहीन हैं? क्या यह सत्य नहीं है कि तथाकथित 'आम आदमी' और राज्य सत्ता के मध्य एक विराट संवादहीनता विद्यमान है? क्या यह सत्य नहीं है कि सामान्य नागरिकों को विधिक प्रक्रियाएँ आश्वस्त प्रदान नहीं करतीं बल्कि भयाक्रान्त करती हैं? क्या यह सत्य नहीं है कि न्यायिक प्रक्रिया अधिक आर्थिक सामर्थ्य की मांग करती है जो सामान्य नागरिक के लिए दिवास्वप्न मात्र है? क्या यह सत्य नहीं है कि स्वातंत्र्योत्तर भारतवर्ष में विधियों, अधिनियमों, प्रावधानों की भाषा, शैली, व्याख्या, शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास, किन्तु-परन्तु तथा मन्तव्य अच्छे-भले पढ़े लिखे व्यक्ति की समझ से भी बाहर होते हैं? क्या यह सत्य नहीं है कि हमारे मध्य अनेक ऐसे व्यक्ति विद्यमान हैं जो कानूनी प्रक्रियाओं और प्रविधियों को आम आदमी के लिए सुगम तथा बोधगम्य बनाने के स्थान पर अबूझ तथा भयावह बनाकर प्रस्तुत करने को अपनी आजीविका का माध्यम बताते हैं? क्या यह सत्य नहीं है कि आर्थिक विपन्नता, अज्ञान, विकल्पहीनता, सुविधाहीनता और उपलब्धता के अभाव के कारण हमारे देश के अधिकांश नागरिक स्तरहीन, गुणवत्ता शून्य, जीवन तथा स्वास्थ्य के लिए हानिकारक तथा उपयोग के लिए अनुचित सामग्री, वस्तुओं और सेवाओं के उपयोग हेतु बाध्य हैं? क्या यह सत्य नहीं है कि हमारे अधिकांश व्यापारी संगठन

टैक्स चोरी करने वाले, नियमों का उल्लंघन करने वाले, अनैतिक व्यापार प्रथाओं में संलिप्त रहने वाले तथा समूह की शक्ति के कारण राज्य व्यवस्था की शक्तियों को निर्बल एवं क्षीण बनाने वाले व्यापारियों के हितों के संरक्षक ही अधिक दिखाई पड़ते हैं? क्या यह सत्य नहीं है कि हमारे अधिकांश व्यापारिक प्रतिष्ठान निर्लज्जतापूर्वक यह अनैतिक, अवैध तथा एकपक्षीय उद्घोषणा अपने मुख्य स्थानों पर लगाते हैं कि 'एक बार बिका हुआ माल वापस नहीं होगा'? क्या यह सत्य नहीं है कि हमारा सामाजिक व्यवहार अपने विषय में कुछ और तथा अपने से अतिरिक्त व्यक्तियों के विषय में कुछ और होता है? क्या यह सत्य नहीं है कि हम समाज में लोगों के जिस अनुचित, नियमविरुद्ध, अनैतिक तथा स्वार्थी व्यवहार से क्षुब्ध, क्रुद्ध और व्यथित होते हैं अपने कार्यक्षेत्र में हम प्रायशः वैसा ही व्यवहार दूसरों के साथ पर्याप्त सहजता से करते हैं? क्या यह सत्य नहीं है कि हमारा राष्ट्रीय चरित्र स्खलित हुआ है? क्या यह सत्य नहीं है कि हमारा सार्वकालिक नैतिक पतन हमें निष्कृष्ट मनुष्य, निष्ठाहीन व्यक्ति, और अनैतिक नागरिक बना रहा है? क्या यह सत्य नहीं है कि विधियों से, अधिनियमों से, प्रावधानों से, न्यायिक प्रक्रियाओं से, न्यायालयों से तथा राजसत्ता प्रतिष्ठानों से मनुष्यों का हृदय परिवर्तन नहीं होता है? क्या यह सत्य नहीं है कि सामाजिक संस्थाओं का पराभव, धार्मिक संस्थाओं का क्षय, सांस्कृतिक संस्थानों का क्षरण तथा राजनीतिक संस्थाओं का आर्थिक शक्तियों में विलीनीकरण हमारे राष्ट्र में चरित्र निर्माण प्रक्रिया को आगे नहीं बढ़ने दे रहे हैं?

उक्त परिप्रेक्ष्य में मेरे पास इन उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर नहीं है। परन्तु मैं आज इस विद्वत्समाज के समक्ष मात्र यह कहकर अपनी वाणी को विराम देना चाहूँगा कि राज्य अपने नियमों, विधियों, अधिनियमों, प्रावधानों तथा प्रक्रियाओं के माध्यम से अपने दायित्व का निर्वहन करता रहे परन्तु यह पर्याप्त नहीं है। नागरिक के रूप में हमारे अधिकारों के साथ हमें अपने दायित्वों तथा कर्तव्यों की ओर भी ध्यान देना होगा। सामाजिक संस्थाओं का पुनरुज्जीवन हमारे सामाजिक आचरण को नियन्त्रित करने के लिए अनिवार्य है। समाज से, राष्ट्र से, क्षेत्र से, समूह से, समुदाय से, परिवार से हम जो प्राप्त करते हैं उसका प्रतिदान करना भी हमारा ही कर्तव्य है। परम्परा कहती है 'यावदादानमस्माकं स्यात् प्रदानं ततोऽधिकम्'। हमें यह समझना अनिवार्य है कि उपभोग से कामनाओं की तृप्ति अथवा शान्ति नहीं होती अपितु यह वृद्धि को ही प्राप्त होती है— 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति, हविषा कृष्णवर्त्मव भूय एवाभिवर्धते'⁵³ अथवा पुनः भर्तृहरि के शब्दों में कहूँ तो

भोगा न भुक्ता वयमेय भुक्ता—
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
कालो न यातो वयमेय याता—
स्तृष्णा न जीर्णा वयमेय जीर्णाः ॥⁵⁴

इसलिए हमें अपनी प्राथमिकताओं का पुनर्निर्धारण करना ही होगा तभी हम एक श्रेष्ठ राज्य, स्वस्थ समाज तथा उत्तम नागरिक समुदाय के निर्माण की दिशा में प्रवृत्त हो सकेंगे।

बन्धुओं, एक बार पुनः आयोजकों और आप सभी श्रोताओं को धन्यवाद। मेरे बहुत से विचार वाद-विवाद को जन्म दे सकते हैं। कुछ विचार असुविधाजनक भी लगे होंगे। किसी को मेरे विचारों से कष्ट पहुँचा हो तो क्षमा करेंगे। ईश्वर ने चाहा तो पुनः भेंट होगी। महाकवि भवभूति ने कहा है कि—

कालोद्दयं निरवधि विपुला च पृथिवी ।

धन्यवाद

सन्दर्भ

1. कालिदास, **रघुवंश महाकाव्यम्**, प्रथम सर्ग (श्लोक 2), कालिदास ग्रन्थवली, रेवाप्रसाद द्विवेदी (सम्पादक), काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1976, पृष्ठ— 103 (मूल श्लोक का प्रथम चरण इस प्रकार है— 'क्व सूर्यप्रभवोवंशः')
2. भर्तृहरि, **नीतिशतकम्**, (8), एम. आर. काले (सम्पादक), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1971 (पुनर्मुद्रण 2004), पृष्ठ — 6
3. वेदव्यास, **महाभारत**, गीताप्रेस, गोरखपुर, शान्तिपर्व, अध्याय— 59, श्लोक— 14, पृष्ठ— 4570
4. तद्वैव, **महाभारत**, उद्योगपर्व, अध्याय 37 (श्लोक 17) पृष्ठ— 2156, 63, और देखें राजधर्मानुशासन पर्व, अध्याय— श्लोक—24—30, प्रमुख— सर्वेत्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु चोक्ताः। सर्वविद्या राजधर्मेषु युक्ता सर्वलोकाः राजधर्मे प्रविष्टाः ॥
5. कालिदास, **अभिज्ञानशाकुन्तलम्**, पंचम अङ्क (श्लोक 8), कालिदास ग्रन्थवली, पूर्वोक्त

6. पंचतन्त्रम्, एम. आर. काले, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1912 (पुनर्मुद्रण 1999), अध्याय- 3, श्लोक- 103, पृष्ठ- 150
7. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय 3 (श्लोक 35), गीताप्रेस गोरखपुर, 26वां पुनर्मुद्रण, 2006, पृष्ठ- 36
8. भर्तृहरि, नीतिशतकम्, (श्लोक 50) पूर्वोक्त
9. चाणक्यनीति, साधना पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2004, पृष्ठ- 149
10. महाभारत, पूर्वोक्त, उद्योगपर्व, अध्याय- 36, श्लोक 30, पृष्ठ- 2151
11. धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो नो धर्मो हतोऽवधीत्।। मनुस्मृति, पूर्वोक्त, अध्याय 8 (श्लोक 15), पृष्ठ 378
12. मनुस्मृति, मणिप्रभाठीकोपेता, टीकाकार पण्डित हरगोविन्द शास्त्री, चौरवम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी 1953 (द्वितीय मुद्रण 2003), अध्याय 8 (श्लोक 7), पृष्ठ 396,
13. तदैव, अध्याय 8 (श्लोक 222), पूर्वोक्त, पृष्ठ 431
14. तदैव, अध्याय 8 (श्लोक 223), पूर्वोक्त, पृष्ठ 432
15. तदैव, अध्याय 8 (श्लोक 399), पूर्वोक्त, पृष्ठ 473
16. तदैव, अध्याय 8 (श्लोक 400), पूर्वोक्त पृष्ठ 473
17. तदैव, अध्याय 8 (श्लोक 401, 402), पूर्वोक्त, पृष्ठ 474
18. तदैव, अध्याय 8 (श्लोक 403), पूर्वोक्त, पृष्ठ 474
19. तदैव, अध्याय 8 (श्लोक 59), पूर्वोक्त, पृष्ठ 390
20. तदैव, अध्याय 8 (श्लोक 94, 98, 99, 100, 101, 102), पूर्वोक्त, पृष्ठ 398- 401
21. तदैव, अध्याय 8 (श्लोक 203), पूर्वोक्त, पृष्ठ 427
22. तदैव, अध्याय 8 (श्लोक 219), पूर्वोक्त, पृष्ठ 431
23. तदैव, अध्याय 8 (श्लोक 220, 221), पूर्वोक्त, पृष्ठ 431
24. तदैव, अध्याय 8 (श्लोक 307), पूर्वोक्त, पृष्ठ 451 पूर्वोक्त तथा अध्याय 9 (254), पृष्ठ- 544
25. तदैव, अध्याय 9 (श्लोक 231), पूर्वोक्त, पृष्ठ 538
26. तदैव, अध्याय 9 (श्लोक 253), पूर्वोक्त, पृष्ठ 543
27. तदैव, अध्याय 9 (श्लोक 257), पूर्वोक्त, पृष्ठ 544
28. तदैव, अध्याय 9 (श्लोक 258, 259, 260), पूर्वोक्त, पृष्ठ 544-545
29. तदैव, अध्याय 9 (श्लोक 261), पूर्वोक्त, पृष्ठ 545
30. तदैव, अध्याय 9 (श्लोक 262), पूर्वोक्त, पृष्ठ 545
31. तदैव, अध्याय 9 (श्लोक 282), पूर्वोक्त, पृष्ठ 550

32. तदैव, अध्याय 9 (श्लोक 286), पूर्वोक्त, पृष्ठ 551
33. तदैव, अध्याय 9 (श्लोक 287), पूर्वोक्त, पृष्ठ 551
34. तदैव, अध्याय 9 (श्लोक 291), पूर्वोक्त, पृष्ठ 552
35. तदैव, अध्याय 9 (श्लोक 292), पूर्वोक्त, पृष्ठ 552
36. **कौटिलीय अर्थशास्त्रम्**, वाचस्पति गैरोला (सम्पादक), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2000, अध्याय—
6, प्रकरण— 22, पृष्ठ— 99
37. तदैव, अध्याय 12, प्रकरण— 28, पृष्ठ— 136
38. तदैव, अध्याय 12, प्रकरण— 28, पृष्ठ— 139
39. तदैव, अध्याय 12, प्रकरण— 28, पृष्ठ— 141
40. तदैव, अध्याय 12, प्रकरण— 28, पृष्ठ— 142
41. तदैव, अध्याय 13, प्रकरण— 29, पृष्ठ— 143
42. तदैव, अध्याय 14, प्रकरण— 30, पृष्ठ— 152— 156
43. तदैव, अध्याय 14, प्रकरण— 30, पृष्ठ— 156
44. तदैव, अध्याय 16, प्रकरण— 32, पृष्ठ— 164
45. तदैव, अध्याय 16, प्रकरण— 32, पृष्ठ— 165—166
46. तदैव, अध्याय 19, प्रकरण— 35, पृष्ठ— 174—179
47. तदैव, अध्याय 21, प्रकरण— 37, पृष्ठ— 185— 188
48. तदैव, अध्याय 21, प्रकरण— 37, पृष्ठ— 186— 187
49. तदैव, अध्याय 22, प्रकरण— 38, पृष्ठ— 191
50. **उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986**, सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, 2002, पृष्ठ संख्या—1
51. तदैव, पृष्ठ—3
52. अधिनियम के समस्त प्रावधानों का उल्लेख पूर्वोक्त स्रोत से ही किया गया है।
53. **मनुस्मृति**, पूर्वोक्त, अध्याय—2, श्लोक 94, पृष्ठ— 59
54. भर्तृहरि, **वैराग्यशतकम्**, (श्लोक 8), पूर्वोक्त, पृष्ठ— 52

अध्यक्षीय उद्बोधन

डॉ. राकेश हूजा

प्रोफेसर संजीव कुमार शर्मा, गणमान्य अतिथिगण, हमारे संस्थान परिवार के सदस्यगण, आज के समारोह में मेरी ओर से भी स्वागत।

राज्य के दायित्व एवं राज्य धर्म, नागरिक एवं उपभोक्ता में अन्तर, आचरण की मर्यादाएँ, सामाजिक संस्थाओं का समाज में महत्व, राष्ट्रीय चरित्र आदि का उल्लेख, प्रोफेसर शर्मा के व्याख्यान में सुनने को मिला। आमतौर से उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम पर आयोजित कार्यक्रमों में ऐसी बातें कम सुनने को मिलती हैं किन्तु उनको सुनकर अच्छा लगा। साथ में प्रोफेसर शर्मा ने उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम के प्रावधानों का विस्तृत वर्णन भी प्रदान किया है एवं उन पर टिप्पणी भी की है। इसने उनके भाषण को अति रोचक एवं उपयोगी दोनों ही रूप दिए हैं। साथ में उन्होंने मेरा काम भी कुछ आसान बना दिया है, क्योंकि मुझे अब उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम के विभिन्न प्रावधानों एवं उसके क्रियान्वयन में सम्भव सुधारों के बारे में विस्तृत चर्चा करने की जरूरत नहीं रही है।

भारत के लिए उपभोक्ता संरक्षण कोई नई बात नहीं है, प्राचीन काल से ही यह संकल्पना हमारे यहाँ विद्यमान थी। मनुस्मृति, वैदिक कालीन साहित्य, कौटिल्य की विख्यात रचना 'अर्थशास्त्र' आदि में इसका विस्तृत उल्लेख मिलता है। जैसा कि प्रोफेसर शर्मा ने भी संकेत दिया था, कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में उचित मूल्य, स्पष्ट माप-तौल और व्यापारिक गतिविधियों में पारदर्शिता आदि का वर्णन करते हुए उपभोक्ता हितों को संरक्षित करना 'राजधर्म' बताया है। वहीं उन्होंने उद्योग एवं व्यापार में किए जाने वाले शोषण, मिलावट आदि को अपराध की श्रेणी में रखा है तथा इसके लिए दोषी को दण्ड देने की बात कही है। मनुस्मृति में भी चल एवं अचल संपत्ति के क्रय-विक्रय के सम्बन्ध में अनेकों नियम उल्लिखित हैं। मध्य कालीन युग में भी मुगल शासकों द्वारा वस्तुओं के उचित मूल्य, गुणवत्ता व

उपलब्धता के बारे में नियंत्रण स्थापित किए जाने के उल्लेख मिलते हैं। ऐसा ब्रिटिश राज के समय में भी था।

स्वतंत्र भारत में उपभोक्ता आंदोलन को प्रारम्भ करने का श्रेय तत्कालीन मद्रास राज्य के मुख्यमंत्री श्री चक्रवर्ती राज गोपालाचारी को जाता है, जिन्होंने वर्ष 1949 में उपभोक्ता के हितों की रक्षा के लिए उपभोक्ता संरक्षण परिषद की स्थापना की। वर्ष 1974 में श्री बिन्दुमाधव जोशी ने पुणे में अखिल भारतीय ग्राहक पंचायत की स्थापना की। इस संगठन ने महाराष्ट्र में उपभोक्ता आंदोलन को गतिशील बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मुंबई की गृहणियों की पहल के बाद श्री मनुभाई शाह ने सन 1979 में उपभोक्ता हितों के संरक्षण एवं संवर्धन के लिए “उपभोक्ता शिक्षा एवं अनुसंधान केन्द्र” स्थापित किया। इसके अलावा सत्तर के दशक के बाद अनेक छोटे-छोटे स्वैच्छिक संगठन सामने आए, जो स्थानीय स्तर पर उपभोक्ताओं के हित में कार्य कर रहे थे।

विश्व स्तरीय उपभोक्ता आंदोलन के वर्तमान अथवा आधुनिक स्वरूप की नींव उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में पड़ी। अमेरिका के कानूनविद् रॉल्फ नाडर ने मोटरकार एवं टायर के निर्माताओं एवं व्यापारियों द्वारा उपभोक्ताओं के कथित शोषण के खिलाफ जनमत तैयार करने का काम किया।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति जान. एफ. कैनेडी ने 15 मार्च, 1962 को उपभोक्तावाद की महत्ता पर जोर देते हुए अमेरिकी संसद के समक्ष “उपभोक्ता अधिकार बिल” की रूपरेखा प्रस्तुत की। इसीलिए 15 मार्च को ‘विश्व उपभोक्ता दिवस’ के रूप में मनाया जाता है। कैनेडी के सफल प्रयासों के कारण ही अमेरिका में ‘उपभोक्ता सुरक्षा आयोग’ का गठन हुआ। कैनेडी द्वारा प्रस्तुत ‘कंज्यूमर्स बिल ऑफ राइट्स’ में उपभोक्ता के निम्नलिखित चार अधिकारों की आवश्यकता पर बल दिया गया था—

- सुरक्षा का अधिकार
- सूचना का अधिकार
- चयन का अधिकार
- सुनवाई का अधिकार

कालान्तर में संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में हेग स्थित उपभोक्ता संघों के अंतर्राष्ट्रीय संगठन ने चार और अधिकारों को इसमें शामिल कर दिया जो निम्नलिखित हैं—

- क्षतिपूर्ति का अधिकार
- उपभोक्ता शिक्षा का अधिकार
- स्वस्थ पर्यावरण का अधिकार
- मूलभूत आवश्यकता (basic needs) का अधिकार (वस्त्र, भोजन तथा आश्रय)

बाद में 'अनुचित व्यापार प्रथा द्वारा शोषण के विरुद्ध अधिकार' को भी इसमें शामिल कर लिया गया।

अंतर्राष्ट्रीय उपभोक्ता संघों के अथक प्रयास के फलस्वरूप संयुक्त राष्ट्र संघ के आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् का ध्यान उपभोक्ता संरक्षण से संबंधित समस्याओं की ओर आकर्षित हुआ। परिषद् ने एक सर्वेक्षण कराया और अंतर्राष्ट्रीय संगठनों से विचार-विमर्श के बाद महासंघ के समक्ष उपभोक्ता नीति के विकास के लिए मार्गदर्शक सिद्धांतों का एक प्रारूप, अनुमोदन के लिए प्रस्तुत किया। जिसे संयुक्त राष्ट्र ने 9 अप्रैल, 1985 को स्वीकार किया। इसमें निम्नलिखित उद्देश्य इंगित किए गए थे।

- उपभोक्ताओं को संरक्षण एवं अनुदान देने के लिए विश्व के देशों की सहायता करना।
- उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं व इच्छाओं के अनुरूप उत्पादन व वितरण पद्धति को और सुविधाजनक बनाना।

- वस्तुओं और सेवाओं के वितरण में लगे व्यक्तियों को उच्च नैतिक आचरण बनाए रखने के लिए प्रोत्साहित करना।
- राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तरों पर सभी उद्योगों द्वारा अपनाई जाने वाली अनुचित व्यापारिक प्रथाओं को रोकने में देशों की सहायता करना।
- स्वतंत्र उपभोक्ता समूहों के विकास में सहायता।
- उपभोक्ता संरक्षण के क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देना।
- ऐसी बाजार स्थितियों को विकसित करना जिसमें उपभोक्ता कम मूल्य पर बेहतर वस्तुएं खरीद सकें।

संयुक्त राष्ट्र के दिशा-निर्देशों के होते हुए तथा विकसित देशों के प्रोत्साहन से भारत में भी उपभोक्ता संरक्षण से संबंधित बेहतर कानून बनाने का माहौल तैयार होने लगा। परिणामस्वरूप, 24 दिसम्बर, 1986 को तत्कालीन राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के साथ ही देश में उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम नामक एक समाज कल्याणक कानून अस्तित्व में आ गया।

देश में इसके लागू होने के बाद, अधिनियम के उद्देश्यों एवं प्रावधानों को ध्यान में रखकर केन्द्र, राज्य और जनपद स्तर पर उपभोक्ता अदालतों एवं उपभोक्ता परिषदों का गठन हुआ जिसके माध्यम से देश के लाखों उपभोक्ताओं को विभिन्न मामलों में राहत प्रदान की जा रही है। आज देश में राष्ट्रीय स्तर पर 1, राज्य के स्तर पर लगभग 35 और जनपद स्तर पर 600 से अधिक उपभोक्ता अदालतों का लाभ देश के नागरिकों को प्राप्त हो रहा है, और इन सभी अदालतों में दायर मामलों के निस्तारण की बात की जाय, तो इनमें दर्ज लगभग 90 प्रतिशत मामलों का निवारण हो चुका है। यद्यपि, अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार, उपभोक्ता अदालतों में दायर मामलों का निस्तारण 90 से 150 दिन के भीतर हो जाना चाहिए, लेकिन दुर्भाग्य से इस समय सीमा के अन्दर सभी मामलों का निस्तारण नहीं हो पाता है। ऐसे में इस ओर खास तौर से ध्यान देने की आवश्यकता है।

पिछले पच्चीस वर्षों में वैश्विक स्तर पर अनेक परिवर्तन हुए जिनके प्रभाव से भारत भी अछूता नहीं रहा। वर्ष 1991 में देश में आर्थिक उदारीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होने से विकास

की गति तेज हुई, औद्योगीकरण और नगरीकरण का तेजी से विस्तार हुआ। खुली अर्थव्यवस्था अंगीकृत होने से बहुदेशीय कंपनियां देश में आने लगीं। इनमें आपसी प्रतिस्पर्धा, व्यापार के विस्तार और अधिक से अधिक धन कमाने की लालसा ने भारतीय बाजारों का स्वरूप बदल दिया। पारंपरिक दुकानों की जगह, सुपरमार्ट, एवं शापिंग मॉल ने लेनी शुरू कर दी। उपभोक्ताओं की जरूरत, जेब और मनोविज्ञान को ध्यान में रखकर कंपनियों द्वारा विभिन्न उत्पादों का विनिर्माण किया जाता है। इन उत्पादों को बेचने के लिए तरह-तरह के हथकंडे अपनाए जाते हैं। टेलिविजन और पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से भ्रामक विज्ञापनों के सहारे एक तरफ जहाँ उपभोक्ताओं को आकर्षित करने की कोशिश शुरू हुई, वहीं दूसरी तरफ तकनीकी के सहारे नकली उत्पादों का न सिर्फ उत्पादन प्रारम्भ हुआ, बल्कि बड़े स्तर पर इनकी बिक्री भी होती है। नगरों के कम विकसित इलाकों के साथ-साथ ग्रामीण क्षेत्रों में इन नकली और हानिकारक उत्पादों की बिक्री बदस्तूर जारी है। इन उत्पादों की वजह से एक तरफ जहाँ उपभोक्ता द्वारा खर्च किए गए पैसे का पूरा मूल्य नहीं मिल पाता, वहीं दूसरी तरफ उसके स्वास्थ्य को भी नुकसान पहुँचता है। ऐसे में सवाल उठता है कि क्या सिर्फ कानून बना देने से इस समस्याओं से निजात मिल पाएगी ? शायद नहीं ! इसके लिए कानून के साथ-साथ हम सभी को जागरूक होना पड़ेगा। विज्ञापनों के चकाचौंध से न सिर्फ अपने को बचाना होगा बल्कि अपने आस-पास के लोगों, रिश्तेदारों, परिचितों में भी जागरूकता लानी पड़ेगी। उपभोक्ताओं के अनुचित शोषण से बचने के लिए यह आवश्यक है। वैसे हमें यह नहीं सोच लेना चाहिए कि उपभोक्ता पूरी तरह से असहाय एवं लाचार होते हैं। उपभोक्ताओं के निर्णय, उत्पादनकर्ताओं एवं व्यापारियों की गतिविधियों को काफी हद तक प्रभावित भी करते हैं एवं जब उपभोक्ता मिलकर किसी गलत प्रथा का अथवा खराब उत्पादन अथवा सेवा का विरोध करते हैं तो उसका अच्छा खासा असर भी पड़ता है।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उपभोक्ता एक उत्पादक भी होता है। उपभोक्ता एवं उत्पादक, दोनों ही के नाते उसके कई दायित्व होते हैं, अब तक उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम के 25 वर्षीय कार्यकाल में उपभोक्ता आंदोलन ने अधिकारों की ओर अधिक ध्यान दिया है। अगले 25 वर्षों में हमारा ध्यान दायित्वों की ओर भी केन्द्रित होना चाहिए ताकि उपभोक्ताओं के

अधिकारों एवं दायित्वों के मध्य एक सकारात्मक सन्तुलन स्थापित हो सके, यह हमारे समाज के लिए एक देन साबित होगी।

एक बार पुनः प्रोफेसर शर्मा को उनके उत्तम व्याख्यान एवं यहाँ उपस्थित सभी को इस कार्यक्रम की शोभा बढ़ाने हेतु धन्यवाद।